न्याय पाएं तो कैसे?

जुही

"बंबई के एक बड़े पुलिस अफ़सर की पत्नी ने शादी के बीस साल बाद तलाक के लिए अर्जी दी। कारणः मेरा पति मुझे रोज मारता है, बीस सालों का यह सिलसिला, अब बर्दाश्त नहीं होता। आने-जाने वाले, पड़ौसी, बच्चों सभी के सामने डंडों, लातों, घूसों से मारता है। अब मुझे तलाक चाहिए। उसे तलाक तो मिला, पर गुजारा भत्ता नहीं। आठ साल से केस चल रहा है।"

"रेशमा के पिता गुजर गए। अपना मकान रेशमा के नाम कर दिया। भाई ने मकान बेच दिया। रेशमा ने केस किया। सोलह साल हो गए, निपटारा नहीं हुआ।"

"शशि और सीमा दिल्ली में रहती हैं। एक महिला संस्था में काम करती हैं। एक दिन नाटक देखकर रात को घर लौट रही थीं। करीब साढ़े दस बजे का वक्त था। रास्ते में दो लड़कों ने उन्हें दबोच लिया, मारपीट की और रुपए छीन लिए। थाने में रपट लिखाने गईं। थानेदार ने उन्हें आवारा करार दिया।"

अखबार की सुर्खियों में रोज़ इस तरह की कितनी ही घटनाएं छपती हैं। कितने ही केस थाने में दर्ज़ होते हैं। कितने केस अदालत तक जाते हैं। पर इंसाफ़ और न्याय कितनों को मिल पाता है? सिर्फ़ कुछ गिने-चुने लोगों को। ऐसा क्यों?

1947 में हमारा देश आजाद हुआ। संविधान बनाया गया। मर्दों और औरतों को बराबर अधिकार और दर्जा दिया गया। हमें उम्मीद की किरण दिखाई दी। लगा, जो काम अंग्रेजी राज में नहीं हुआ, वह हमारी अपनी सरकार कर दिखाएगी। पर ऐसा नहीं हुआ।

किताबों में बंद कानून

न्याय और इंसाफ़ की बातें किताबों में बंद हो कर रह गईं। समय-समय पर नए कानून बने, पुराने कानूनों में संशोधन हुए। खासकर औरतों के मुद्दों से जुड़े कानूनों में, चाहे फिर वह दहेज, बलात्कार, जमीन-जायदाद का हो या फिर नौकरी के समान अवसर, भेदभाव का। पर कानून का दायरा और कानून के ठेकेदारों का नजरिया संकीर्ण और संकुचित ही बना रहा। आज भी हम औरतें न्याय पाने, आसानी से अदालत जाने की हिम्मत नहीं करतीं।

थका देने वाली प्रक्रिया

हम अदालत-कचहरी आमतौर पर नहीं जातीं। क्यों? आम लोगों की सोच है कि कानून केवल नाम का है। मुजरिम छूट जाते हैं, सबूत के इंतज़ार में कानून अंधा-बहरा बना रहता है। न्याय की आशा करना बेकार है। कानूनी प्रक्रिया बेहद लंबी और थका देने वाली है। फ़ैसले की नौबत

आते-आते सालों लग जाते हैं।

कानून की भाषा और प्रक्रिया आम आदमी की समझ से बाहर हैं। इसका सही और भरपूर इस्तेमाल करने के लिए वकील करना पड़ता है। वकील की भारी-भरकम फीस कमर तोड़ देती है। अदालत चले गए और वकील भी कर लिया, फिर भी इंसाफ नहीं मिलता। कानूनी ढांचा ऊपर से लेकर नीचे तक भ्रष्ट है। रिश्वत और पहुंच का बोलबोला है। कई बार सच्चा आदमी इस दलदल में फंसकर, न्याय से महरूम रह जाता है।

संविधान, सरकार और कानून की मौजूदगी के बावजूद, कानून हमें पूरी तरह से इंसाफ़ दिलाने मे असमर्थ है।

औरतों को कानून से न्याय पाने में इन अड़चनों के अलावा कुछ दूसरी तरह की परेशानियों का सामना करना पड़ता है। इनमें से कुछ ऐसी हैं जो उसके प्रति समाज के रवैए से जुड़ी हैं।

कानून अपने आप से कुछ नहीं कर सकता। उसकी उपयोगिता उसके ठीक से लागू होने में है। उसे लागू करने वाले हैं पुलिस, वकील, जज। और इन सबकी अपनी एक सामाजिक सोच होती है। और कानून को लागू करने के समय यही सोच असर करती है।

उदाहरण के लिए—एक महिला संगठन में काम करने वाली औरत अपने घर काम करने वाली बाई के पति की रपट लिखाने जब थाने गई तो थानेदार ने साफ़ इंकार कर दिया—''अरे, इसका पति अगर कभी-कभार मार भी देता है तो क्या हुआ। इसने ज़रूर कोई गलती की होगी। जबान चलाई होगी। इसके मर्द ने तो सिर्फ़ पीटा है। मैं होता तो सीधा अस्पताल भेज देता। और आप लोग तो बात का बतंगड़ बनाती हैं। घर तुड़वाती हैं। जाइए, अपना काम कीजिए।''

यह सिर्फ़ थानेदार की सोच नहीं है। हर स्तर पर यही सोच मिलती है। ज़रूर औरत में ही कोई दोष होगा। ऐसे में भला कैसे न्याय मिलेगा?

औरत ही मुजरिम

अगर रपट लिखी भी गई तो अदालत में औरत के चरित्र पर लांछन लगाए जाते हैं। अगर पति ने मारा-पीटा तो इसने जुबान दराजी की होगी। ग़ैर-मर्दों से हंसेगी-बोलेगी तो पति कैसे बर्दाश्त करेगा। देर रात घर लौटेगी, ऐसे फैशन के कपड़े पहनेगी तो सीटिया बजना, छींटाकशी और छेड़खानी होना लाज़िमी है; इसमें हैरानी कैसी।

मतलब, एक औरत को इंसान होने का हक़ समाज उसे नहीं देता। समाज उसे एक जानी-पहचानी निर्धारित छवि में देखना चाहता है। उसी के हिसाब से उसका पहनावा, बोल-चाल, आचार-व्यवहार होना चाहिए। अगर कोई औरत इस दायरे से बाहर निकलती है तो वह भली-अच्छी नहीं है।

अच्छी हो या नहीं, वह इंसान तो है ही। और कानून हक़ देने, अधिकारों की रक्षा करने के लिए बना है। उसे अच्छे-बुरे का भेदभाव करके, फिर इंसाफ़ करने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए। अगर जज पहले से ही मानकर चले कि उसके सामने पेश होने वाला व्यक्ति मुजरिम है, तो न्याय कैसे होगा?

हम क्या करें?

आज हमारे सामने यही सवाल है। अगर इंसाफ़ करने वाले ही हमें पितृसत्ता का चश्मा चढ़ाकर देखेंगे तो इंसाफ़ नहीं होगा। हमें न्याय तभी मिलेगा जब कानून को लागू करने वाले जज, वकील, पुलिस और अधिकारीगण, औरतों को औरतों की नजर से देखें। उनकी परेशानी और तकलीफों के प्रति संवेदनशीलता का रुख अपनाएं।

केवल कानून में संशोधन करने से कुछ नहीं होगा। बुनियादी फ़र्क तभी आएगा, जब कानूनी प्रक्रिया, व्यवस्था और उसे लागू करने वाली अफसरशाही औरतों के प्रति जवाबदेय और संवेदनशील होगी।

कानून के साथ-साथ सामाजिक दबाव को भी एक हथियार के रूप में इस्तेमाल करना चाहिए। बिहार में काम करने वाली एक संस्था, महिला जागृति केंद्र की एक कार्यकर्ता टीना ने बताया- "मारपीट के केस में हम औरतों की पंचायत बैठाती हैं। पंचायत का जो फैसला हो उस हिसाब से सलूक करती हैं।"

दिल्ली की बस्ती में काम करने वाले सबला संघ की एक सदस्या का कहना है—"समाज का वास्ता देकर मर्द हम औरतों को दबाते हैं। हम भी समाज का डर दिखाकर उन्हें दबा सकते हैं। कई केसों में धरना देकर, चौराहे पर बेइज्ज़त करके जो जीत का अहसास होता है वह केस जीतकर भी नहीं होता। क्योंकि ऐसे करने से हम उसकी इज्ज़त पर चोट करते हैं।"

यानि सिर्फ़ कोर्ट-कानून के भरोसे न रहकर हमें चौतरफा रणनीति अपनानी चाहिए। चाहे मामला जायदाद का हो, चाहे मारपीट, दहेज का, बलात्कार या हत्या का, हर तरीके से मुजरिम को सज़ा दिलाने की कोशिश करनी चाहिए। कानून का सहारा, सामाजिक दबाव जैसे नौकरी की जगह, मुहल्ले में पोल खोलना, जलूस, धरना आदि तरीके कारगर सिद्ध हो सकते हैं। □

महिलाओं की राजनीति में भागीदारी के बारे में जागोरी संस्था ने दो पोस्टरों और गीतों का एक कैसेट तैयार किया है। दो पोस्टरों की कीमत 12 रु. और कैसेट की कीमत 30 रु. है।

नीचे लिखे पते से पोस्टर व कैसेट मंगाए जा सकते हैं—

जागोरी,
सी-54 (तीसरी मंजिल)
साऊथ एक्सटेंशन पार्ट-II
नई दिल्ली-110049